नईदुनिया

बारिश नहीं, बदइंतजामी डूबो रही है हमारे शहरों को

डॉ. विश्वास तिवारी

गर्मी के मौसम के बाद जब बारिश की पहली बूंद धरती पर पड़ती है तो किसानों के चेहरों पर मुस्कान आ जाती है। यह बारिश मौसम को सुहावना तो बनाती है, लेकिन अपने साथ कई मुसीबतें भी लाती है। एक और मच्छर जनित बिमारियां जैसे मलेरिया, डेंगू, चिकनगुनिया आदि, वहीं शहरों में सड़कों, कॉलोनियों में जल भराव, आखिर हर बार बारिश में हमारे शहर क्यों डूबने लगते है? मुंबई, दिल्ली, जयपुर, बेंगलुर, इंदौर, पुराना भोपाल, जरा सी बारिश में इनकी स्थिति बिगड़ जाती है। कई जगह तो पानी से बचाने के लिए एनडीआरएफ की टुकड़ी बुलानी पड़ती है। यह स्थिति आज की नहीं, यह परेशानी सालों से चली आ रही है, आखिर हर वर्ष ऐसा क्यों होता है? पहाड़ों पर तो स्थिति बहुत बुरी होती है, वहां तो लैंड स्लाइड भी होती है जिससे सड़के अवरूद्ध हो जाती है, घर के घर बह जाते है और जान माल का बहुत नुकसान होता है। हाल ही में जम्मू कश्मीर के राजौरी जिले में आई फ्लैश फ्लड में दो सौ से ज्यादा कारें बह गई। वहां यह विकास कार्यों के चलते होता है। सड़कों के चौड़ीकरण के लिए पेड़ों को काटा जाता है जो पहाड़ों की जमीन को पकड़कर रखते है। दुनिया की महाशक्ति बनने का सपना देख रहा भारत देश जिसकी अर्थव्यवस्था सबसे तेजी से बढ़ रही है। इस समय वह दुनिया की पांचवी सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था वाला देश है। उसी की राजधानी नई दिल्ली में जरा सी बारिश में सड़के तालाब बन जाती है, मौत का कारण बन जाती है। क्या पता पानी के नीचे कोई मेनहोल खुला हो, या एक बड़ा सा गड्डा हो या कोई बिजली का तार खुला हो। नई दिल्ली में पहले कांग्रेस की सरकार थी, फिर आम आदमी पार्टी की सरकार थी और अब भाजपा की सरकार है। सरकारें बदली, लेकिन मुसीबतें नहीं। इसकी जिम्मेदारी केवल सरकार पर नहीं डाली जा सकती है। दोषी अगर सरकार है तो हम भी कम दोषी नहीं है, हर शहर में कुकुरमुत्तों की तरह नई अवैध कॉलोनियां बन रही है जहां बुनियादी सुविधाएं तक नहीं है ना तो इनमें सड़कें है न हो ड्रेनेज सिस्टम और ना ही नाली। इन अवैध निर्माण होने के बाद वोट बैंक, नौकरशाही के भ्रष्टाचार और लापरवाही से ऐसी कॉलोनियों की बाढ़ आ जाती है। केंद्र सरकार से करोड़ों का बजट मिलने के बावजूद शहरों में सही से ड्रेनेज सिस्टम तक नहीं बन पा रहा है। नालों के ऊपर दुकानें और घर बना दिए जाते है और उनका पानी तालाब और नदियों तक में छोड़ा जाता है। वैसे भी इनकी सफाई बारिश के पहले तक नहीं की जाती है और यह ज्यादातर ब्लॉक रहते है। इनमें से गाद भी निकाला ही नहीं जाता है।

इस कारण बारिश के समय पानी का बहाव रूक जाता है और वह सड़कों पर भरने लगता है। यही पानी फिर लोगों के घरों और दुकानों में घुस जाता है। दुकानों का सामान खराब हो जाता है और घरों के फर्नीचर और इलेक्ट्रानिक उपकरण बिगड़ने लगते है।

पुराने भोपाल शहर में तो कई बार नाव चलाने की नौबत आ जाती है। मुंबई की हालत सबसे बुरी है। मुंबई का बड़ा हिस्सा समुद्र तल से बहुत नीचे है। भारी बारिश के समय जब अरब सागर में हाई टाइड आता है, तो समुद्र का पानी शहर की तरफ आने लगता है। इसके कारण बारिश के पानी को समुद्र में जाने का रास्ता ही नहीं मिलता है।

दोषी अगर सरकार है तो हम भी कम दोषी नहीं हैं, हर शहर में कुकुरमुत्तों की तरह नई अवैध कॉलोनियां बन रही हैं जहां बुनियादी सुविधाएं तक नहीं हैं ना तो इनमें सड़कें हैं न हो ड्रेनेज सिस्टम और ना ही नाली। इन अवैध निर्माण होने के बाद वोट बैंक, नौकरशाही के भ्रष्टाचार और लापरवाही से ऐसी कॉलोनियों की बाढ़ आ जाती है। केंद्र सरकार से करोड़ों का बजट मिलने के बावजूद शहरों में सही से ड्रेनेज सिस्टम तक नहीं बन पा रहा है। नालों के ऊपर दुकानें और घर बना दिए जाते हैं और उनका पानी तालाब और नदियों तक में छोड़ा जाता है।

मुंबई शहर का अधिकांश ड्रेनेज सिस्टम अंग्रेजों के जमाने का बना हुआ है। उस समय आबादी बहुत कम थी और अब आबादी इतनी बढ़ गई है कि यह ड्रेनेज सिस्टम बारिश के पानी का बोझ उठाने में असमर्थ है। शहरों के तेजी से शहरीकरण के कारण जमीन डामर और कांक्रीट से पूरी तरह ढक गई है। इससे पानी जमीन के अंदर नहीं जा पाता है और सड़कों पर भर जाता है। ड्रेनेज सिस्टम में प्लास्टिक, पॉलीथिन और निर्माण कार्यों से होने वाला कचरा फंस जाता है जिससे बारिश के पानी का बहाव रूक जाता है।

जलवायु परिवर्तन के कारण अब वर्षा का स्वरूप बदल गया है। पहले पानी कई दिनों तक गिरता था, अब वह कुछ घंटों में गिर जाता है, यानि बारिश के दिन तो कम हो गए है, लेकिन एक साथ पानी गिरने के कारण 50-60 साल पुरानी सीवर व्यवस्था को वह ध्वस्त कर देती है। नाले उफनने लगते है और सड़कें नदी बन जाती है। साथ कई मुसीबतें भी लाती है, हमारी योजनाएं वर्षों से एक ही गलती करती है। सड़कें हम चौड़ी करते रहे जिससे नालियां सकरी होती गई। हमारे तालाब और बावड़ियां अतिक्रमण के कारण लुप्त होते जा रहे है। इसलिए ही कुछ घंटे की बारिश पूरे शहर की गति रोक देती है। ठेकेदार बिना डामर की परत को खोदे सीमेंट की सड़क बनाते है जिससे सड़क ऊंची हो जाती है और पानी घरों में भरने लगता है, लोक निर्माण विभाग और नगरीय निकाय के इंजीनियर मौके पर जाकर मुआयना करने के बजाए कार्यालय में ही बैठे रहते है। हमारी सरकारी एंजेसियों में तालमेल की कमी भी दिखाई देती है। नई सड़क बनने के बाद दूसरी एंजेसी जैसे विद्युत विभाग, नगरपालिका को फिर किसी कार्य से सड़क खोदने की याद आती है और वह अपना काम करने के बाद उसे उसी हालत में छोड़ देती है जिससे वही कचरा बहकर नालों के बहाव को बंद कर देता है। जलभराव की समस्या से बचने के लिए केंद्र सरकार द्वारा कई योजनाएं शुरू की है जैसे अटल नवीकरण एवं शहरी परिवर्तन मिशन (अमृत 2.0), शहरी बाढ़ प्रबंधन, स्पंज सिटी और वर्षा जल संचयन आदि। अगर इन योजनाओं पर ईमानदारी से कार्य किए जाए तो हमारे शहरों की तस्वीर बदल सकती है, लेकिन यह भी सच है कि हमारे यहां योजनाओं की घोषणाएं तो होती है, परंतु उसके परिणाम धरातल पर दिखाई नहीं देते है। केवल कार्यों की समय सीमा घोषित करने से कुछ नहीं होगा। भोपाल का आखिरी मास्टर प्लान 1995 में आ गया था जिसकी अवधि 2005 से समाप्त हो गई है और नया मास्टर प्लान 2026 तक नहीं आया है। शहरों को डुबाने वाली केवल बारिश ही नहीं, बल्कि वर्षों की अनदेखी, अव्यवस्था और अनियोजित विकास है। अब समय दोषारोपण का नहीं, बल्कि दूरदर्शी और जवाबदेही शहरी प्रबंधन का है। हमें हमारे शहरों को पानी से लड़ना नहीं, बल्कि पानी के साथ जीना सिखाना होगा।

रेगिस्तान से उठती परमाणु हवा : नया शक्ति समीकरण लिखेगा पश्चिम एशिया का भविष्य

अमेरिका और सऊदी अरब के बीच हुआ 30 वर्षीय असैन्य परमाणु सहयोग समझौता कागज पर तो ऊर्जा और विकास की साझेदारी लगता है, लेकिन इसकी गूंज पूरे पश्चिम एशिया और उससे आगे तक सुनाई दे रही है। यह समझौता केवल दो देशों के बीच बिजली बनाने का सौदा नहीं है। यह एक रणनीतिक दांव, एक भू-राजनीतिक संदेश और ऐसे क्षेत्र में नए शक्ति संतुलन की शुरुआत है, जो पहले से ही तनाव, युद्ध और गठबंधनों के जटिल जाल में उलझा हुआ है। रियाद की चमकती इमारतों और वाशिंगटन के सत्ता गलियारों में लिए गए इस फैसले के असर आने वाले दशकों तक महसूस किए जाएंगे।

समझौते की रूपरेखा सीधी दिखाई देती है। अमेरिकी कंपनियां सऊदी अरब के परमाणु ऊर्जा कार्यक्रम में भाग लेंगी। रियाद को अपने नागरिक परमाणु संयंत्रों के लिए ईंधन और तकनीक मिलेगी और बदले में अमेरिका को खाड़ी क्षेत्र में अपना प्रभाव बनाए रखने का एक नया जरिया मिलेगा। इसके साथ द्विपक्षीय सुरक्षा प्रावधान भी जुड़े हैं, जिन्हें आमतौर पर सेफगार्ड कहा जाता है। इसका मतलब है कि परमाणु सामग्री का दुरुपयोग न हो, इसके लिए निगरानी और जांच की व्यवस्था होगी। लेकिन पूरा मसौदा अभी सार्वजनिक नहीं हुआ है, इसलिए विशेषज्ञ और विश्लेषक केवल अनुमान और लीक हुई जानकारियों के आधार पर ही इसके मायने निकाल रहे हैं। सबसे संवेदनशील बिंदु यूरेनियम संवर्धन का है। रिपोर्टों के अनुसार, सऊदी अरब चाहता है कि उसे अपने यहां यूरेनियम संवर्धन की अनुमति मिले, ताकि वह अपने परमाणु रिएक्टरों के लिए ईंधन खुद तैयार कर सके। यह मांग तकनीकी रूप से जायज लगती है, क्योंकि इससे लागत कम होगी और आत्मनिर्भरता बढ़ेगी, लेकिन यही बिंदु सबसे खतरनाक भी है।

यूरेनियम संवर्धन एक ऐसी तकनीक है, जिसकी दोहरी प्रकृति है। एक तरफ इससे परमाणु बिजलीघरों के लिए ईंधन बनता है और दूसरी तरफ इसी तकनीक को थोड़ा और आगे बढ़ाकर हथियार-ग्रेड का यूरेनियम भी बनाया जा सकता है। दुनिया में बहुत कम देश हैं, जिन्हें यह अनुमति मिली है और हर बार यह अनुमति बहुत कड़ी शर्तों के साथ दी गई है। इसलिए वाशिंगटन में भी इस मुद्दे पर बहस तेज है। अमेरिकी कांग्रेस

को इस समझौते को अंतिम मंजूरी देनी है और वहां के सांसद पूछ रहे हैं कि क्या हम एक ऐसे देश को संवर्धन की क्षमता दे रहे हैं, जो कल को हथियार बना सकता है। अगर सुरक्षा प्रावधान कमजोर रहे तो यह समझौता ऊर्जा से निकलकर हथियारों की दौड़ में बदल सकता है।

पश्चिम एशिया पहले से ही बारूद के ढेर पर बैठा है। एक तरफ ईरान का परमाणु कार्यक्रम दशकों से विवाद का कारण बना हुआ है। तेहरान और वाशिंगटन के बीच अविश्वास इतना गहरा है कि कोई भी नई पहल सीधे उससे जोड़कर देखी जाती है। दूसरी तरफ इजरायल, सऊदी अरब, तुर्की और संयुक्त अरब अमीरात जैसे देश अपनी सुरक्षा को लेकर हमेशा चिंतित रहते हैं। ऐसे माहौल में अगर सऊदी अरब को संवर्धन की क्षमता मिलती है तो बाकी देश भी यही मांग करेंगे।

संयुक्त अरब अमीरात पहले ही कह चुका है कि उसने बिना संवर्धन के समझौता किया था और उसे घाटा हुआ। अब वह भी दोबारा बात करेगा। तुर्की, मिस्र और अन्य देश भी लाइन में लग जाएंगे। नतीजा यह होगा कि पूरा क्षेत्र एक नई हथियारों की दौड़ में प्रवेश कर जाएगा, जहां हर देश अपने परमाणु कार्यक्रम को ताकत का प्रतीक मानेगा। इस समझौते को केवल परमाणु चश्मे से देखना गलती होगी। इसके पीछे तेल के बाद की दुनिया की तैयारी भी है। सऊदी अरब जानता है कि तेल हमेशा के लिए नहीं रहेगा। विजन 2030 के तहत वह अपनी अर्थव्यवस्था को विविध बनाना चाहता है। परमाणु ऊर्जा उसके लिए एक विकल्प है, क्योंकि इससे बड़ी आबादी को बिजली मिलेगी, उद्योग चलेंगे और पानी को साफ करने के लिए डिसेलिनेशन प्लांट भी चलाए जा सकेंगे। अमेरिका के लिए यह अवसर है कि वह चीन और रूस को इस क्षेत्र से दूर रखे। पिछले कुछ वर्षों में बीजिंग और मॉस्को दोनों ने सऊदी अरब को परमाणु तकनीक देने की पेशकश की है। अगर अमेरिका पीछे हटता है तो रियाद दूसरे दरवाजे खटखटाएगा। इसलिए यह सौदा ऊर्जा से ज्यादा प्रभाव और गठबंधन का सौदा है।

लेकिन इतिहास हमें चेतावनी देता है। परमाणु तकनीक जब एक बार दी जाती है तो उसे वापस लेना बहुत मुश्किल होता है। भारत और अमेरिका का 123 समझौता इसका उदाहरण है। उस समझौते के बाद भारत को नागरिक परमाणु व्यापार का रास्ता मिला, लेकिन उसके साथ कड़ी निगरानी और अलगाव भी आया। सऊदी अरब के मामले में सवाल यह है कि क्या वाशिंगटन उतनी कड़ी शर्तें लगा पाएगा, जितनी भारत के मामले में लगाई थीं, या फिर तेल और रणनीतिक जरूरतों के कारण समझौता ढीला रहेगा। अगर शर्तें ढीली हुईं तो यह संदेश जाएगा कि नियम सबके लिए बराबर नहीं हैं और इससे परमाणु अप्रसार व्यवस्था की साख को धक्का लगेगा। आम आदमी के लिए इसका क्या मतलब है? सबसे पहले तो यह कि पश्चिम एशिया में अस्थिरता बढ़ सकती है। जहां पहले से ही यमन, सीरिया और इजरायल-फिलिस्तीन जैसे मुद्दे सुलग रहे हैं, वहां एक नई हथियारों की दौड़ आग में घी डालने का काम करेगी। दूसरा, तेल की कीमतें प्रभावित हो सकती हैं, क्योंकि निवेशक अनिश्चितता से डरते हैं और कोई भी संघर्ष सीधे वैश्विक बाजार को हिला देता है। तीसरा, भारत जैसे देशों के लिए यह एक कूटनीतिक चुनौती है। भारत के अमेरिका और सऊदी अरब, दोनों से गहरे संबंध हैं। नई दिल्ली को यह देखना होगा कि क्षेत्रीय संतुलन न बिगड़े और उसकी ऊर्जा सुरक्षा पर असर न पड़े।

समझौते के समर्थकों का कहना है कि यह समझौता जरूरी है, क्योंकि सऊदी अरब को विकास का अधिकार है और उसे कार्बन-मुक्त ऊर्जा चाहिए। परमाणु ऊर्जा जलवायु परिवर्तन से लड़ाई में मदद करेगी और क्षेत्र में स्थिरता लाएगी। उनका कहना है कि सेफगार्ड और अंतरराष्ट्रीय निगरानी के साथ यह पूरी तरह सुरक्षित रहेगा। लेकिन आलोचक पूछते हैं कि क्या कागज पर लिखे वादे जमीनी हकीकत में बदलेंगे? क्या निगरानी इतनी मजबूत होगी कि किसी भी गड़बड़ी को तुरंत पकड़ा जा सके? और क्या राजनीतिक इच्छाशक्ति इतनी बनी रहेगी कि समझौते का उल्लंघन होने पर सख्त कार्रवाई हो?

यह समझौता एक कसौटी है। यह कसौटी अमेरिका की है कि वह अपने सहयोगी को कितना भरोसा देता है और कितनी सीमा तय करता है। यह कसौटी सऊदी अरब की है कि वह विकास और सुरक्षा के बीच संतुलन कैसे बनाता है। और यह कसौटी पूरे अंतरराष्ट्रीय समुदाय की है कि वह परमाणु युग में नियमों को कितना पवित्र मानता है।

पश्चिम एशिया का भविष्य अब इस बात पर टिका है कि यह 30 साल का समझौता बिजली का उजाला लाएगा या अंधेरे की आशंका। रेगिस्तान की रेत में अब केवल तेल के कुएं नहीं, बल्कि परमाणु रिएक्टरों की छाया भी दिखाई दे रही है और उस छाया में दुनिया को बहुत सावधानी से कदम रखना होगा, क्योंकि एक गलत कदम पूरे क्षेत्र का नक्शा बदल सकता है।

(नईदुनिया संपादकीय डेस्क)

52 करोड़ भारतीयों की थाली से दूर हुआ पोषण, 358 रुपए रोज का खर्च आम आदमी के बस से बाहर

देश में भूख और कुपोषण के आंकड़े पिछले दो दशकों में कम हुए हैं। सरकारी योजनाओं और सार्वजनिक वितरण प्रणाली ने करोड़ों लोगों को दो वक्त का भोजन उपलब्ध कराने में मदद की है, लेकिन अब एक नई और गंभीर चुनौती सामने खड़ी है। यह चुनौती है पौष्टिक और संतुलित आहार की। संयुक्त राष्ट्र की स्टेट ऑफ फूड सिक्योरिटी एंड न्यूट्रिशन इन द वर्ल्ड 2026 रिपोर्ट ने यह सच्चाई उजागर की है कि भारत में करीब 52 करोड़ लोग ऐसे हैं, जो नियमित रूप से स्वस्थ और संतुलित भोजन खरीदने में सक्षम नहीं हैं। यानी देश की एक-तिहाई से अधिक आबादी आज भी फल, सब्जियां, दाल, दूध और प्रोटीनयुक्त भोजन जैसी बुनियादी पोषण जरूरतों को हर दिन पूरा नहीं कर पा रही है।

रिपोर्ट के अनुसार भारत में स्वस्थ आहार की औसत लागत बढ़कर 358 रुपये प्रति व्यक्ति प्रतिदिन पहुंच गई है। यह आंकड़ा क्रय शक्ति समता के आधार पर निकाला गया है। 2024 की तुलना में यह लागत 343 रुपये से बढ़कर 358 रुपये हो गई है। यानी एक वर्ष में ही खर्च 15 रुपये बढ़ गया। महंगाई के इस दौर में, जब दाल, तेल, सब्जी और दूध की कीमतें लगातार बढ़ रही हैं, तब 358 रुपये प्रतिदिन का खर्च एक आम परिवार के लिए बड़ा बोझ बन गया है। पांच सदस्यीय परिवार के लिए इसका अर्थ लगभग 1,790 रुपये प्रतिदिन और करीब 53,700 रुपये प्रतिमाह केवल भोजन पर खर्च करना है, जो अधिकांश निम्न और मध्यम आय वर्ग के परिवारों के लिए संभव नहीं है।

रिपोर्ट की सबसे चिंताजनक बात यह है कि भूख कम होने के बावजूद पोषण की समस्या बनी हुई है। वर्ष 2019 से 2025 के बीच स्वस्थ आहार खरीदने में असमर्थ लोगों की संख्या में लगभग 29 प्रतिशत की कमी आई है। यह सकारात्मक संकेत है, लेकिन फिर भी 52 करोड़ का आंकड़ा बताता है कि देश खाद्य सुरक्षा के मामले में आगे बढ़ा है, जबकि पोषण सुरक्षा अभी भी बड़ी चुनौती बनी हुई है। लोग पेट भरने के लिए सस्ता अनाज और कार्बोहाइड्रेटयुक्त भोजन तो ले पा रहे हैं, लेकिन शरीर को आवश्यक विटामिन, खनिज और प्रोटीन नहीं मिल पा रहे हैं।

इसका सीधा असर बच्चों और महिलाओं पर पड़ रहा है। रिपोर्ट बताती है कि वर्ष 2024 में पांच वर्ष से कम आयु के 32.9 प्रतिशत बच्चे ठिगनेपन से प्रभावित थे। यानी कुपोषण के कारण उनकी लंबाई उम्र के अनुसार नहीं बढ़ पा रही है। दूसरी ओर बच्चों और वयस्कों में मोटापे की दर भी लगातार बढ़ रही है। यह विरोधाभास इसलिए है क्योंकि लोग सस्ते और अधिक कैलोरी वाले, लेकिन पोषक तत्वों से रहित भोजन की ओर बढ़ रहे हैं। पैकेटबंद स्नैक्स, तले हुए खाद्य पदार्थ और चीनी युक्त पेय आसानी से उपलब्ध हैं और अपेक्षाकृत सस्ते भी हैं। परिणामस्वरूप शरीर को कैलोरी तो मिल रही है, लेकिन पर्याप्त पोषण नहीं।

विश्व स्तर पर तुलना करें तो भारत में स्वस्थ आहार की लागत पाकिस्तान के बराबर 343 रुपये और बांग्लादेश से कम 399 रुपये बताई गई है, जबकि चीन में यह 317 रुपये और अमेरिका में 249 रुपये है। इसका अर्थ यह नहीं कि भारत अमेरिका से महंगा है, बल्कि क्रय शक्ति के हिसाब से भारतीयों के लिए 358 रुपये प्रतिदिन खर्च करना कहीं अधिक कठिन है। इसका प्रमुख कारण खाद्य महंगाई, आय में असमानता और पोषण संबंधी जागरूकता की कमी है। पिछले कुछ वर्षों में सब्जी, फल, दाल और दूध की कीमतों में लगातार वृद्धि हुई है। मानसून की अनिश्चितता, जलवायु परिवर्तन और आपूर्ति श्रृंखला की समस्याओं ने भी स्थिति को प्रभावित किया है।

इस समस्या का समाधान केवल राशन बांटने से नहीं होगा। सरकार को अब खाद्य सुरक्षा से आगे बढ़कर पोषण सुरक्षा पर ध्यान देना होगा। सार्वजनिक वितरण प्रणाली में गेहूं और चावल के साथ दाल, खाद्य तेल और मोटे अनाज को भी शामिल करना चाहिए। आंगनबाड़ी और मध्याह्न भोजन योजना को और मजबूत बनाना होगा, ताकि बच्चों को पौष्टिक भोजन मिल सके। महिलाओं को पोषण संबंधी शिक्षा देकर कम बजट में संतुलित भोजन तैयार करने के लिए प्रेरित करना होगा। साथ ही स्थानीय स्तर पर फल, सब्जी और मोटे अनाज के उत्पादन को बढ़ावा देना होगा, ताकि उनकी उपलब्धता बढ़े और कीमतें नियंत्रित रहें।

किसानों की भूमिका भी इसमें महत्वपूर्ण है। यदि मोटे अनाज, दाल और तिलहन की सरकारी खरीद तथा न्यूनतम समर्थन मूल्य को प्रभावी बनाया जाए तो किसान पोषक फसलों की खेती के लिए प्रोत्साहित होंगे। इससे बाजार में पौष्टिक खाद्य पदार्थों की उपलब्धता बढ़ेगी और उनकी कीमतें भी संतुलित रहेंगी। वहीं, शहरों में किफायती और पौष्टिक भोजन के विकल्प बढ़ाने की जरूरत है। मीडिया और सोशल मीडिया के माध्यम से भी स्वस्थ खानपान के प्रति जागरूकता बढ़ानी होगी।

भारत दुनिया की सबसे बड़ी अर्थव्यवस्थाओं में शामिल होने की ओर बढ़ रहा है, लेकिन यदि 52 करोड़ लोगों की थाली से पोषण दूर रहेगा तो यह विकास अधूरा रहेगा। अब समय केवल भूख मिटाने का नहीं, बल्कि कुपोषण मिटाने का है। स्वस्थ भारत का सपना तभी साकार होगा, जब हर भारतीय की थाली में दाल, रोटी, सब्जी, फल और दूध जैसी पौष्टिक चीजें ऐसी कीमत पर उपलब्ध हों, जो हर परिवार की पहुंच में हों। एक स्वस्थ नागरिक ही मजबूत राष्ट्र की सबसे बड़ी नींव होता है।

(नईदुनिया संपादकीय डेस्क)

आमों का बादशाह : उत्पादन में नंबर वन, निर्यात में फिसड्डी

भारत को आमों का देश कहा जाता है और इस बात पर दुनिया भी सहमत है, क्योंकि दुनिया में जितना आम पैदा होता है, उसका लगभग 43 प्रतिशत हिस्सा अकेले भारत की धरती से आता है। वर्ष 2024-25 में देश में आम का कुल उत्पादन 228.37 लाख टन अनुमानित किया गया है, जो किसी भी अन्य देश से कई गुना अधिक है। देश में 1500 से ज्यादा किस्में पाई जाती हैं।

दशहरी, लंगड़ा, अल्फांसो, केसर, चौसा, हिमसागर, बम्बई ग्रीन और तोतापरी जैसी किस्मों का स्वाद विदेशों तक मशहूर है। फिर भी एक कड़वा सच यह है कि उत्पादन में बादशाह होने के बावजूद निर्यात के मामले में भारत बहुत पीछे है। वित्त वर्ष 2024-25 में भारत ने केवल 29,938 टन आम निर्यात किया, जो कुल उत्पादन का मात्र 0.13 प्रतिशत है। यानी 99 प्रतिशत से अधिक आम देश के भीतर ही खप जाता है। मैक्सिको, थाईलैंड, वियतनाम और पाकिस्तान जैसे देश उत्पादन में हमसे काफी छोटे हैं, लेकिन निर्यात में आगे निकल चुके हैं।

इसका सबसे बड़ा कारण आम की प्रकृति है। आम अत्यंत नाजुक फल है। कटाई के चार से पांच दिन के भीतर यदि उसे उचित तापमान और नमी नहीं मिले तो वह खराब होने लगता है। भारत में गांव स्तर तक कोल्ड चेन और पैक हाउस की सुविधाएं अभी पर्याप्त नहीं पहुंच पाई हैं। परिणामस्वरूप खेत से मंडी तक पहुंचने के दौरान ही बड़ी मात्रा में आम खराब हो जाता है। दूसरी बड़ी चुनौती अंतरराष्ट्रीय मानकों की है। अमेरिका, यूरोपीय संघ, जापान और ऑस्ट्रेलिया जैसे बड़े बाजारों में आम भेजने के लिए कीटनाशकों की सीमा, हॉट वाटर ट्रीटमेंट और पैकेजिंग के कड़े नियम हैं। छोटे किसान सीमित संसाधनों और तकनीक के अभाव में इन मानकों को पूरा नहीं कर पाते।

भारत में आम की खेती का इतिहास हजारों वर्ष पुराना है। मुगल काल में भी आम को शाही फल का दर्जा प्राप्त था। आज उत्तर प्रदेश, आंध्र प्रदेश, बिहार, गुजरात, महाराष्ट्र और कर्नाटक इसके प्रमुख उत्पादक राज्य हैं। लाखों किसानों की आजीविका आम की खेती पर निर्भर है। एक अच्छी फसल पूरे वर्ष की आय सुनिश्चित कर देती है। लेकिन घरेलू मांग इतनी अधिक है कि अधिकांश उत्पादन देश के भीतर ही खप जाता है। 140 करोड़ की आबादी वाले देश में गर्मियों के मौसम में आम की खपत स्वाभाविक रूप से बहुत अधिक रहती है। व्यापारी पहले घरेलू बाजार की जरूरत पूरी करते हैं और उसके बाद जो बचता है, वही निर्यात के लिए जाता है।

निर्यात कम होने का एक अन्य कारण लागत भी है। घरेलू बाजार में आम की कीमत 30 से 40 रुपये प्रति किलो रहती है, लेकिन शिपिंग, टैक्स और हैंडलिंग जोड़ने के बाद इसकी कीमत काफी बढ़ जाती है। इसके विपरीत थाईलैंड और मैक्सिको ने अपनी सप्लाई चेन इतनी मजबूत कर ली है कि वे कम लागत में उच्च गुणवत्ता वाला आम वैश्विक बाजार तक पहुंचा देते हैं। भारत में अभी भी अधिकांश खेती पारंपरिक तरीके से होती है। ड्रिप सिंचाई, मल्चिंग और आधुनिक रोग नियंत्रण तकनीकों का सीमित उपयोग होने से गुणवत्ता में एकरूपता नहीं आ पाती।

सरकार ने इस दिशा में कई कदम उठाए हैं। एपीडा के माध्यम से किसानों को प्रशिक्षण दिया जा रहा है। पैक हाउस और कोल्ड स्टोरेज के लिए सब्सिडी दी जा रही है तथा निर्यातकों को वित्तीय सहायता भी उपलब्ध कराई जा रही है। कई राज्यों में क्लस्टर आधारित खेती को बढ़ावा दिया जा रहा है। महाराष्ट्र के अल्फांसो, उत्तर प्रदेश के दशहरी और बिहार के जर्दालू को जीआई टैग भी मिल चुका है, जिससे उनकी वैश्विक पहचान मजबूत हुई है। हालांकि ये प्रयास अभी व्यापक स्तर तक नहीं पहुंच पाए हैं। भारत के सामने निर्यात बढ़ाने की अपार संभावनाएं हैं। मध्य पूर्व, यूरोप और अमेरिका में भारतीय मूल के लोगों के बीच भारतीय आम की भारी मांग है। दक्षिण-पूर्व एशिया और अफ्रीका में भी नए बाजार विकसित किए जा सकते हैं। यदि गुणवत्ता और समय पर आपूर्ति सुनिश्चित की जाए तो निर्यात कई गुना बढ़ सकता है। इसके लिए गांव स्तर तक कोल्ड चेन का विस्तार, आधुनिक पैक हाउस की स्थापना और किसानों को निर्यात मानकों के प्रति जागरूक बनाना आवश्यक है।

निर्यात बढ़ने से किसानों की आय में भी सीधा इजाफा होगा। अतिरिक्त उत्पादन विदेशी बाजारों में जाएगा तो घरेलू बाजार में कीमतों का अत्यधिक उतार-चढ़ाव भी कम होगा। इसके साथ ही आम से जूस, पल्प, जैम और अन्य प्रसंस्कृत उत्पादों का निर्यात बढ़ाकर किसानों को सालभर आय का स्रोत उपलब्ध कराया जा सकता है तथा ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार के नए अवसर भी पैदा होंगे।

आम केवल एक फल नहीं, बल्कि भारत की संस्कृति और पहचान का हिस्सा है। साहित्य, लोकजीवन और परंपराओं में इसका विशेष स्थान रहा है। उत्पादन में हम दुनिया के निर्विवाद बादशाह हैं, लेकिन वैश्विक बाजार में अभी भी अपनी क्षमता के अनुरूप स्थान नहीं बना सके हैं। अब समय आ गया है कि सरकार, उद्योग और किसान मिलकर दीर्घकालिक रणनीति बनाएं, ब्रांडिंग पर निवेश करें और भारतीय आम को विश्व बाजार में मजबूत पहचान दिलाएं। जिस दिन अल्फांसो, दशहरी और केसर वैश्विक ब्रांड बन जाएंगे, उस दिन भारत केवल उत्पादन में ही नहीं, बल्कि निर्यात में भी आमों का सच्चा बादशाह कहलाएगा।

(नईदुनिया संपादकीय डेस्क)